कठघरे में हैं शिक्षक?

उषा शर्मा *

हम और आप अक्सर बच्चों की शिक्षा के लिए शिक्षकों को दोषी ठहराते हैं। बच्चे पढ़ नहीं पा रहे तो शिक्षक दोषी! बच्चों में आक्रामकता और क्रोध बढ़ता जा रहा है तो शिक्षक दोषी! बच्चे गाली-गलौच करते हैं तो शिक्षक दोषी! बच्चे गुमसुम से और सुस्त से रहते हैं तो शिक्षक दोषी! बच्चे कक्षा में शोर मचाते फिरते हैं तो शिक्षक दोषी! बच्चों के भोजन में कुछ 'खराब' चीज़ निकल आए तो शिक्षक दोषी! शिक्षकों को कठघरे में खड़ा कर उस पर इतने आरोप-प्रत्यारोप लगाए जाते हैं कि वह समझ ही नहीं पाता कि वह क्या करे और अपनी व्यथा किससे कहे! बच्चों की ज़िम्मेदारी केवल और केवल शिक्षकों की है, तो समझ लें कि ऐसा कतई नहीं है। बच्चों की शिक्षा की ज़िम्मेदारी शिक्षक के साथ-साथ उनके माता-पिता और समाज की भी है, यानि हम सब की है फिर बच्चों के किसी भी आचरण-व्यवहार और सीखने में होने वाली कमी के लिए केवल शिक्षक को ही कठघरे में क्यों खड़ा किया जाता है? यह लेख इन्हीं सब मुद्दों पर गहन चिंतन-मनन के लिए आमंत्रित करता है।

जब-जब शिक्षा का ज़िक्र गहराया और गरमाया है तब-तब शिक्षकों, अभिभावकों, नीति-निर्माताओं और बच्चों को कठघरे में खड़ा किया गया है। शिक्षकों पर यह दोष लगाया जाता है कि वे पढ़ाते नहीं हैं। उन्हें तो बस तनख्वाह मिलने से मतलब है। अभिभावकों या माता-पिता पर यह दोष लगाया जाता है कि वे अपने बच्चों को पढ़ाना नहीं चाहते, अपने बच्चों की शिक्षा पर ध्यान नहीं देते, जब सरकारी नीतियों के तहत बच्चों को निःशुल्क कुछ देने का समय आता है तब वे स्कूल में अपनी शक्ल दिखाते हैं, सामान के लिए वे शिक्षकों से लड़-भिड़ जाते हैं, उन्हें अपशब्द कहने से भी नहीं बाज़ नहीं आते। नीति-निर्माताओं पर यह दोष लगाया जाता है कि वे सही तरह से नीति नहीं बनाते, उनके द्वारा

* *प्रोफ़ेसर*, प्रारंभिक शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली

बनाई गई नीतियाँ केवल कागज़ों तक ही रहती हैं। वे ज़मीनी हकीकत से कोसों दूर रहती हैं। बच्चों पर यह दोष लगाया जाता है कि वे पढ़ना ही नहीं चाहते, वे पढ़ाई के प्रति गंभीर नहीं हैं, जब से यह सरकारी नीति आई है कि कक्षा आठ तक कोई बच्चा फ़ेल नहीं होगा तो बच्चों ने पढ़ना ही छोड़ दिया है और जब से यह दसवीं कक्षा का बोर्ड खत्म हुआ है तो बच्चों को अब किसी का डर नहीं है, पहले परीक्षा के भय से पढ़ तो लेते थे, अब तो सब चौपट हो गया है। बच्चे अब शिक्षकों के सिर पर चढ़ जाते हैं। किसी का कोई लिहाज़ ही नहीं रहा। भई तौबा!

दोषारोपण के इस बाज़ार में कही-सुनी जाने वाली आवाज़ों में आप किस पर विश्वास करेंगे– यह आपके विवेक पर निर्भर करता है। शायद इस बात पर भी निर्भर करता है कि आप इन सब मुद्दों से कितने नज़दीक से जुड़े हुए हैं और आपको सरकारी नीतियों, सरकारी घोषणाओं, सरकारी प्रयासों की कितनी जानकारी तथा कितनी गहरी समझ है। मेरे विचार से 'जानकारी' और 'समझ' में अंतर होता है! सरकारी नीतियाँ ही खराब हैं – ऐसा भी नहीं है। शिक्षक ही खराब हैं – ऐसा भी नहीं है। अभिभावक ही खराब हैं – ऐसा भी नहीं है। बच्चे ही खराब हैं – ऐसा भी नहीं है। तो सवाल उठता है कि अंततः क्या खराब है? कहाँ लोच है? यह बेहद संवेदनशील बिंदु है। किसी के सिर सारा दोष मढ़ देना भी तो ठीक नहीं है। हम सभी को अपने-अपने हिस्से का सच तलाशना होगा। और इस सच की तलाश जितनी जल्दी हो जाए उतना ही अच्छा है 'हम सभी के लिए'। 'हम सभी' में सरकार, अभिभावक, शिक्षक, बच्चों समेत समाज भी शामिल है। शिक्षा का क्या स्वरूप है और वह बच्चों को किस रूप में तैयार कर रही है – इसका सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता है। वैसे समाज भी तो आप और हम ही हैं। बच्चों का अनैतिक आचार-विचार समाज में किसी तरह से नैतिकता को स्थापित नहीं कर पाएगा। सिर्फ़ बच्चे ही क्यों, बड़ों का अनैतिक आचार-विचार भी उतना ही दोषी है। लिहाज़ा, बात कुछ इस तरह समझ में आती है कि शिक्षा समाज को प्रभावित करती है और समाज शिक्षा को प्रभावित करता है।

आइए, एक-एक करके कठघरे में खड़े कर इन 'दोषियों' के 'दोषों' को सिलसिलेवार तरीके से सुनने-समझने का 'साहस' करें, लेकिन सिलसिले की इस कड़ी में सबसे पहले शिक्षकों की बात करते हैं – काफ़ी सालों तक सरकार सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों को निःशुल्क रूप से वर्दी, पाठ्य-पुस्तकें आदि उपलब्ध कराती थी। आज भी कराती है लेकिन पिछले कुछ सालों से बच्चों को सीधे तौर पर ये सारी सुविधाएँ उपलब्ध कराने के बदले उनके खाते खुलवाए गए और उनके खाते में इन सब सामानों की राशि डाल दी जाती है। इसका एक कारण जो समझ में आता है वह यह है कि छात्रवृत्ति देने और सामान बाँटने में शिक्षकों की सारी ऊर्जा और समय लगता था। फ़िर बारी-बारी से अभिभावकों का शिक्षकों के पास आना कि मेरे बच्चे को तो सामान नहीं मिला, ऐसा मिला है, वैसा मिला है, छोटा मिला है, बड़ा मिला है आदि, आदि। शिक्षकों का समय वर्दी का कपड़ा काटने और बाँटने में लग जाता था। कितना लगता था– इससे बड़ा मुद्दा यह है कि लगता

तो था ही। वह समय आता कहाँ से था? क्या इसके लिए अलग से कोई समय या शिक्षक रखा जाता था? नहीं! तो यह समय किसके हिस्से का था? दरअसल यह समय बच्चों के हिस्से का था, उन्हें पढ़ाने का था जो 'बच्चों के कामों में स्वाहा' हो जाता था! अब बच्चों के हिस्से का सामान देने के बदले उतनी राशि उन्हें दी जाने लगी। अब शिक्षक यह भी देखते हैं कि बच्चों के खाते उनके अभिभावकों के नाम पर खुल गए हैं, पैसा ट्रांसफ़र हो गया है, सभी 'तरह' के बच्चों के नामों की सूची बनकर 'उचित जगह' पहुँच गई है आदि, आदि। शिक्षक जो भी करे लेकिन समय तो जा ही रहा है। तो क्या करें? क्या बच्चों को ये सारी सुविधाएँ ही न दी जाएँ? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। बच्चे समाज के अलग-अलग हिस्सों से आते हैं और उनकी ज़रूरतें भी अलग-अलग होती हैं। यदि उन्हें सरकारी नीतियों के तहत किसी प्रकार की सुविधाएँ मुहैया करा दी जाएँ तो 'शिक्षा' हासिल करने में उन्हें सहूलियत होगी और वे स्कूल में आएँगे तथा साल भर उनका ही टिकाव होगा। 'शिक्षा का अधिकार' अधिनियम के लागू होने के बाद से शिक्षकों का एक और काम बढ़ गया है और वह है स्कूली व्यवस्था से बाहर सभी बच्चों को उनकी उम्र के अनुरूप स्कूल में दाखिला देना। अब कोई भी स्कूल छह से चौदह वर्ष की उम्र तक वाले किसी भी बच्चे को स्कूल में दाखिला देने से मना नहीं कर सकता। वे जब चाहें स्कूल में दाखिले के लिए आ सकते हैं।

अभी हाल ही में एक सरकारी प्राथमिक विद्यालय में कक्षा एक को पढ़ाने का 'सौभाग्य' मिला। उस कक्षा में रोज़ाना दो-तीन अभिभावक आते थे – अपने बच्चे/बच्चों का दाखिला करवाने के लिए और वह भी अंग्रेज़ी माध्यम वाले अनुभाग में! अंग्रेज़ी रोज़गार की भाषा जो ठहरी! खैर, गौरतलब बात यह है कि जब शिक्षिका किसी भी समय आने वाले अभिभावकों को दाखिला वाला फ़ॉर्म भरने के लिए देतीं, फ़ॉर्म को सही तरीके से भरने के बारे में बताती तो वे बच्चों को सही तरीके से पढ़ा तो नहीं पाती थीं। बस कुछ ब्लैकबोर्ड पर लिख दिया और बच्चे उसे अपनी-अपनी कॉपी में उतारने में जुटे रहते। क्या कक्षा में सब कुछ 'सही-सही' चल रहा है? क्या अभिभावकों को कहा जाए कि दाखिले के लिए स्कूल के समय बाद आया करो? क्या ऐसा हो भी तो क्या शिक्षक विद्यालय में रुकेंगे? और अगर मान भी लीजिए कि ऐसा हो भी जाए तो उन स्कूलों में क्या व्यवस्था की जाएगी जो दो पालियों यानि दो शिफ़्ट में चलते हैं? अभी पहली पाली के बच्चे निकल भी नहीं पाते कि दूसरी पाली के बच्चे अपनी कक्षा में भागकर जाने को तत्पर रहते हैं। लड़कियों को 'सुरक्षित' रूप से स्कूल से बाहर निकालने में भी शिक्षिकाओं को मेहनत करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में शिक्षक क्या करें? ज़रा विचार कीजिए!

शिक्षा व्यवस्था में एक और मसला है और वह यह कि (और जो मैंने दिल्ली के नगर निगम के स्कूलों में पाया भी) नगर निगम के स्कूलों में किसी क्लर्क की व्यवस्था नहीं है। शिक्षकों को अपना वेतन का बिल स्वयं ही बनाना पड़ता है और इतना ही नहीं उसे विभाग में जाकर स्वयं ही 'पास' भी करवाना पड़ता है। अनेक बार मुख्यालय से स्कूल, बच्चों के संबंध में

इतने सवाल पूछे जाते हैं कि उनसे संबंधित आँकड़ों का लेखा-जोखा उपलब्ध कराने में कठिनाई होती है! अब स्थिति यह है कि ये आँकड़े 'ऑनलाइन' उपलब्ध कराने हैं। स्कूलों में कंप्यूटर की व्यवस्था है, इंटरनेट की व्यवस्था है लेकिन वे सरकारी आदेशों को कहाँ मानने वाले हैं भला! जब मन हुआ तब 'चले' जब मन नहीं हुआ तो नहीं 'चले', वे किसी भी तरीके से सरकारी आदेशों के बोझ तले 'दबने' वाले नहीं हैं। मगर शिक्षक तो 'वैसे वाले उपकरण' नहीं हैं और ना ही वे किसी सरकारी आदेश की अवहेलना करने वाले हैं। अब ले-देकर कौन बचा? शिक्षक! अगर आप कहें कि विद्यालय प्रमुख भी तो यह कार्य कर सकता है तो उसे भी आँकड़े जुटाने के लिए शिक्षकों के सहयोग की आवश्यकता होगी– कितने बच्चे अल्पसंख्यक समूह के हैं, कितने बच्चों को सरकारी नीतियों के तहत मुहैया कराई गई दवाई दे दी गई है, कितने बच्चे किस श्रेणी के हैं, मिड डे मील कितने बच्चों ने लिया आदि, आदि। विद्यालय में इस तरह के सवालों की एक लंबी-चौड़ी सूची से जूझते हुए शिक्षक आपको कभी भी मिल जाएँगे। इन सबके लिए समय की आवश्यकता होती है। कौन करेगा? कहीं न कहीं शिक्षकों की ज़िम्मेदारी तो तय हो ही जाती है। शिक्षकों को इन सब के लिए भी समय निकालना है। लेकिन इन सबके लिए शिक्षक के पास समय कहाँ से आता है? यकीनन बच्चों के समय में से! तो क्या शिक्षक इन सभी कामों को 'ना' कह दें? क्या वे 'ना' कह भी सकते हैं? ज़रा सोचिए!

अभी इस तरह के कामों में और भी काम हैं– जनगणना, चुनाव, पल्स पोलियो, आधार कार्ड आदि, आदि। यदि विद्यालय प्रमुख, शिक्षा अधिकारियों या नीति-निर्माताओं से इन सब कामों के औचित्य और इन सब कामों को करते हुए शिक्षक के समय के हर्जे के बारे में पूछा जाए तो यह तर्क दिया जाता है कि ये सभी काम तो उन्हें विद्यालय समय में नहीं करने हैं। विद्यालय समय के बाद या विद्यालय समय से पहले करने हैं। जो शिक्षक पहली पारी के विद्यालय में काम करते हैं या सामान्य शिफ़्ट में काम करते हैं वे दोपहर बाद लोगों के घर जाकर जनगणना संबंधी आँकड़े एकत्र कर सकते हैं। जो शिक्षक दूसरी पाली यानि सेकेंड शिफ़्ट में काम करते हैं वे सुबह के समय यह काम कर सकते हैं। सरकारी आदेश भी इसी तरह के दिए जाते हैं। लेकिन इस संबंध में गाहे-बगाहे मेरी अनेक शिक्षकों से चर्चा होती रहती है तो पता चलता है कि वे इस तरह के कामों को अनिच्छा से करते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जो क्षेत्र उनके हिस्से में आता है वह एक ऐसी बस्ती होती है जहाँ –

- आदमी दिहाड़ी मज़दूर हैं।
- आदमी या उनका पूरा परिवार अपनी गुज़र-बसर करने की खातिर काम करता है।
- आदमी शाम को थके-हारे वापस डेरे पर लौटते हैं।
- आदमी शाम को अक्सर शराब के नशे में रहते हैं।
- दिन में भी असामाजिक तत्व सक्रिय रहते हैं।
- शाम का धुंधलका होने पर आपराधिक गतिविधियाँ तेज़ हो जाती हैं।
- कोई किसी भी तरह की अपभाषा, अपशब्दों का प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र है।
- किसी को अपनी बात समझा पाना बेहद मुश्किल होता है, क्योंकि जैसे ही यह पता

चलता है कि यह सरकारी काम है, वे अपना रोष प्रकट करने लगते हैं कि क्या होगा यह सब लिखकर, सरकार हमारे लिए कुछ करती तो है नहीं, पानी नहीं है, बच्चों की नौकरी नहीं है, सरकार कोई सुविधा मुहैया तो कराती नहीं है।

- लोगों को स्वयं अपने बारे में भी ज़्यादा पता नहीं है। वे स्वयं अपनी अस्मिता की तलाश में हैं!

जब किसी शिक्षिका को ऐसा क्षेत्र मिलता है तो स्कूल के बाद या पहले जाना है – यह आदेश किसी प्रकार से कोई मायने ही नहीं रखता। फिर उन लोगों की तलाश शुरू होती है जो उनके साथ जा सकें – पिता, भाई, बहन, दोस्त, कोई अन्य संबंधी या फिर वे स्कूली बच्चे जो उस क्षेत्र में या उसके आस-पास रहते हैं। जहाँ तक आपराधिक गतिविधियों या असामाजिक तत्वों की सक्रियता का सवाल है तो यह शिक्षकों के लिए भी सुरक्षित नहीं है। इसका यह अर्थ है कि जनगणना का कार्य चाहे विद्यालय समय के पहले हो या बाद में – इसका अनुभव किसी भी रूप में सुखद नहीं है। असुखदकारी अनुभव के लिए स्वयं को मानसिक तौर पर तैयार कर पाना सरल नहीं है। वास्तविक अनुभव से पहले ही शिक्षकों को जिस तनाव से गुज़रना पड़ता है उससे उनका शिक्षण-कार्य नकारात्मक रूप से प्रभावित होता है। स्कूल से पहले या बाद में यह कार्य कर भी लिया तो उनकी सारी ऊर्जा इसी काम में लग जाएगी। जनगणना की तरह और भी गैर शैक्षणिक कार्य हैं जिनमें शिक्षकों की भागीदारी रहती है। ऐसा नहीं है कि इस तरह के कार्यों को करने के लिए मानव संसाधनों की कोई कमी है। ऐसे अनेक लोग हैं जिनके पास किसी तरह का कोई कार्य नहीं है या फिर वे इस तरीके से पेशेवर नहीं हैं। उन्हें इस तरह के कार्य में शामिल किया जा सकता है और उन्हें रोज़गार के अवसर उपलब्ध कराए जा सकते हैं। फिर ज़रूरत ही क्या है, शिक्षकों को इस तरह के कार्यों में शामिल करने की? क्या आपने कभी यह सोचा है कि शिक्षकों को ही इस तरह के गैर-शैक्षणिक कार्यों में शामिल क्यों किया जाता है। समाज में ऐसे अनेक पेशेवर वर्ग हैं जिन्हें कभी इस तरह के कामों में नहीं लगाया जाता। किसी डॉक्टर या इंजीनियर को जनगणना करते हुए देखा है? देखना तो बहुत दूर की बात है, आपने कभी सुना भी नहीं होगा! क्यों? एक डॉक्टर अनेक ज़िंदगियों को बचाने और उन्हें नई ज़िंदगी देने में अपना हुनर, अपनी क्षमताओं, अपनी ऊर्जा का प्रयोग करता है। इसी तरह व्यक्तियों के जीवन को संवारने, जीवन को सही दिशा देने और सही-गलत में सही-सही अंतर करने की महती क्षमता का विकास करने में शिक्षक की भूमिका किसी भी तरह से कमतर नहीं है। किसी डॉक्टर के पास कोई व्यक्ति तब जाता है जब उसे किसी तरह की कोई समस्या या पीड़ा होती है। लेकिन शिक्षक तो सभी के लिए उपलब्ध है। यह उसकी ज़िम्मेदारी है कि वह बच्चों को और युवा होते जा रहे बच्चों को निरंतर अपना सहयोग प्रदान करे ताकि वे जीवन के किसी मोड़ पर डगमगाए नहीं। आज के बच्चे कल के युवा हैं और कल के युवा देश का निर्माण करने वाले नागरिक! एक शिक्षक अनेक पीढ़ियों का निर्माण करता है इसलिए उसकी भूमिका को गंभीरता से लिया जाना चाहिए।

एक शिक्षक तीन सौ पैंसठ दिन और चौबीस घंटे का शिक्षक होता है। ऐसा नहीं है कि जब तक स्कूल चलता है तब तक ही शिक्षक का कार्य है बच्चों को सही-सही दिशा देने का, गलत काम पर उन्हें टोकने और उन्हें समझाने का। एक उदाहरण से इस बात को और अधिक गहराई से समझने की कोशिश करते हैं। मान लीजिए कि रविवार के दिन या फिर स्कूल के बाद आप अपने एक विद्यार्थी को शाम को बाज़ार में देखते हैं। वह अपने दोस्तों के साथ किसी मोहल्ले की टूटी चाहरदीवारी के ऊपर बैठकर सिगरेट का धुँआ उड़ा रहा है, तो आप क्या करेंगे?

- क्या आप उसे अनदेखा कर आगे चले जाएँगे कि अब स्कूल का समय नहीं है। स्कूल के बाद वह जो मर्ज़ी करे, यह उसका निर्णय है, यह उसका निजी मामला है?
- क्या आप उसे आँखों से डराने की कोशिश करेंगे कि शायद वह कोई लिहाज़ ही कर ले।
- क्या आप उसे वहीं उसके दोस्तों के सामने ज़ोर की डाँट लगाएँगे?
- क्या आप उसे अलग से बुलाएँगे और समझाएँगे कि वह जो कर रहा है, बिल्कुल सही नहीं है।
- क्या आप यह सोचने पर विवश हो जाएँगे कि आपकी शिक्षा में कोई कमी रह गई है तभी वह बच्चा ऐसा काम कर रहा है जो उसे नहीं करना चाहिए या करने के लिए मना किया गया है।

एक शिक्षक के रूप में आपका जवाब कुछ भी हो सकता है केवल पहले जवाब को छोड़कर! अगर आप शिक्षक नहीं भी हैं तो भी आपको लगेगा कि शिक्षक कोई भी जवाब चुने, लेकिन उसे पहला जवाब नहीं चुनना चाहिए। अगर आप भी ऐसा सोचते हैं तो इससे यह तय होता है कि शिक्षक का दायित्व विद्यालय की परिधि से भी बाहर कहीं बहुत विस्तृत है।

क्या हमारे माता-पिता का कोई समय निर्धारित है कि वे केवल पूरे दिन और बारह महीनों में केवल इतने ही समय माता-पिता की भूमिका निभाएँगे? नहीं ना! बच्चों की पूर्ण रूप से ज़िम्मेदारी उठाना माता-पिता का दायित्व है। शिक्षक भी माता-पिता के रूप में होता है। हमारी प्राचीन आश्रम व्यवस्था में एक शिक्षक या गुरु की भूमिका इसी रूप में थी। विद्यार्थी एक बार आश्रम या गुरुकुल आ गया तो फिर वह गुरु की ज़िम्मेदारी थी और आवासीय शिक्षा प्रणाली होने के कारण विद्यार्थियों के हर आचार-विचार के बारे में गुरु को पूरी जानकारी होती थी। उन्हें पता होता था कि उनके किस विद्यार्थी को किस प्रकार के सहयोग की आवश्यकता है। एक गुरु अपने शिष्य के सुख-दुख का साथी होता था, उसके शिष्य की पीड़ा उसकी अपनी पीड़ा होती है। वे एक-दूसरे के सुख-दुख के सहपथिक होते थे जिसे किसी समयावधि में नहीं बाँधा जा सकता। एक ओर गुरु निरंतर अपने विद्यार्थियों के साथ रहते हुए और दूसरी ओर विद्यार्थी निरंतर अपने गुरु के साथ रहते हुए अनेक बार सहजता के साथ संवाद करते हुए सीखने-सिखाने की प्रक्रिया को दिशा देते थे। लेकिन आज की शिक्षा-व्यवस्था में शिक्षक के लिए कुछ घंटों की समय-सीमा तय है। उसके बाद विद्यार्थी किन स्थितियों से गुज़रते हैं उसकी

सही-सही जानकारी प्रायः शिक्षकों को नहीं होती। लेकिन इन सबका आशय यह कतई नहीं है कि आज की स्थिति में शिक्षक की महत्ता कम हो गई है, उसका दायित्व अभी भी वही है जो पहले हुआ करता था। लेकिन उस दायित्व को पूरा करने के लक्ष्यों और साधनों के स्वरूप में अंतर आया है या लाया गया है – ज़रा सोचिए!

इस पूरी चर्चा का सार यह है कि शिक्षकों को उनका काम करने दिया जाए। गैर-शैक्षणिक कार्यों में उन्हें उलझाकर रखना और फिर उन पर यह दोष लगाना कि वे पढ़ाते नहीं हैं – कुछ रास नहीं आता। यह ठीक है कि शिक्षा-जगत में, विद्यालय-जगत में हर तरह के व्यक्ति हैं। ऐसे भी शिक्षक हैं जो वास्तव में बच्चों को पढ़ाना चाहते हैं, 'लीक से हटकर' कुछ करना चाहते हैं लेकिन विद्यालयी व्यवस्था उन्हें 'आँकड़ों' के करोबार में उलझाए रखती है। फिर ये आँकड़े किसी भी उद्देश्य से एकत्र किए जाएँ। लेकिन यहाँ एक बात साफ करना बेहद ज़रूरी है कि पढ़ाने का अर्थ केवल किताबी ज्ञान देना या पाठ्यक्रम पूरा करा देना नहीं है। पढ़ाई को शिक्षा के अर्थ में लिया जाए और शिक्षा लेन-देन की चीज़ नहीं है। वह तो संवाद और सहगामी होना है जिसके लिए ज़रूरत है बच्चों के साथ पर्याप्त गुणात्मक समय व्यतीत किया जाए। शिक्षकों को उनके बच्चों के बीच और सिर्फ और सिर्फ उनके बच्चों के लिए 'छोड़' दिया जाए.... बच्चों की खातिर!